
 प्रवचन-10, गाथा-38

(‘समयसार’ 38 वीं गाथा चल रही है)। जीव अनन्त-अनन्त ज्ञान आदि सम्पदा से भरा हुआ पदार्थ है। इस देह से भिन्न, देह को जाननेवाला, (तथापि) देहरूप नहीं। (जब) देहरूप नहीं तो दूसरी चीजरूप तो यह है (ही) नहीं। वह तो ज्ञानानन्द सहजानन्दस्वरूप है। आहा...हा...! ऐसा जो ज्ञानानन्दस्वभाव, उसको भूलकर, अनादि से राग और द्वेष, पुण्य और पाप (के) ऐसे भाव करके, चौरासी के अवतार आत्मा कर रहा है। वह दुःखी है; इसकी उसे खबर नहीं, क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् – कायम रहनेवाला ज्ञान और आनन्द, वह इसका त्रिकाली स्वभाव है। उसकी इसे खबर नहीं। बाहर की खबर में – चतुराई (के) समुद्र में डूब गया है। बाहर में पुण्य और पाप और उसके फल में (मिली) यह धूल 5-25 करोड़, अरब या दो अरब (रुपये) मिले, वह धूल और पत्नी-बच्चों में रुक गया, परन्तु मैं कौन हूँ? मेरी वस्तु में क्या है? मैं कितनी सम्पदावाला हूँ? मेरे में कितनी ऋद्धि और समृद्धि है? उसका इसने एक समय भी कभी भी विचार किया नहीं। आ...हा...हा...! अनादि से इसने यह विचार किया नहीं, बाकी सब बाहर का (करना माना है।) मैं करूँ... मैं करूँ... ऐसा अज्ञान (में)माना है। सूक्ष्म बात है, प्रभु!

पर देह में आत्मा.... सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वरदेव, जिनको तीन काल का ज्ञान है (वह) वर्तमान में विराजते हैं – महाविदेह में ‘सीमन्धर’ प्रभु विराजते हैं। तीन काल, तीन लोक का ज्ञान है। (ऐसे) बीस तीर्थकर विराजते हैं। उनके श्रीमुख से जो दिव्यध्वनि आयी, दिव्य अर्थात् प्रधान वाणी; उसकी रचना इसमें हुई है। क्योंकि ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ जो मुनि थे, वह संवत् 49 में वहाँ गये थे। बात कैसे मानी जाए? वहाँ आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह सब रचना की है। इसमें 38 वीं गाथा (में) जीव की पूर्णता कैसे हो? और अपूर्णता में वह कैसा मान रहा है? – वह बात भगवान के श्रीमुख से निकली हुई है, वह बात यहाँ कही गयी है। अपने एक बात (हो) गयी है। (अब) एक दूसरी बात है। यहाँ से लेना है।

नर, नारक आदि जीव के विशेष... है अन्दर? आहा...! यह मनुष्यपना,

नारकीपना... नीचे है, देव और तिर्यच – यह तिरछे (प्राणी)। यह मनुष्य ऐसे ऊँचे हैं और तिर्यच (ऐसे आड़े हैं)। कषाय की वक्रता बहुत की – क्रोध, मान, माया, लोभ, राग; उसमें ये रहे, (उस कारण) वह मरकर तिर्यच होते हैं। तिर्यच अर्थात् तिरछा, जिनका शरीर आड़ा (है)। सिंह, बाघ, छिपकली, गाय, घोड़ा (इनके) ऐसा आड़ा शरीर होता है। मनुष्य ऐसे सीधे हैं। ऐसे भव भी अनन्त बार किये और तिर्यच के भी अनन्त अवतार किये। अरे...! स्वर्ग के भी अनन्त अवतार किये, प्रभु! परन्तु इस देह में भगवान सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध कौन है? उसकी कभी भी उसने नजर की नहीं!! उसकी सम्भाल कभी की नहीं। वह यहाँ कहते हैं।

नर... नर अर्थात् मनुष्यदेह। नारकी... नीचे नरक है। एक मनुष्य को मारे तो राज में उसकी व्यवस्था एकबार फाँसी देने की होती है परन्तु 25 व्यक्तियों का खून किया हो तो अभी उसको 25 (खून) का फल देने की वर्तमान शासन में क्या व्यवस्था है? इस कुदरत में इसकी व्यवस्था है। नरक एक (क्षेत्र) है, नरक! नारकी! उसमें जितने इसने पाप किये, उतने ही प्रमाण में दुःख (भोगने का) जो स्थान है, उस स्थान को नरक-स्थान कहते हैं। नीचे नरक-स्थान है। वहाँ भी जीव अनन्त बार गया है। यह नर, नारकी, मनुष्य... मनुष्य का भव अनन्त बार हुआ है। अरबोंपति अनन्त बार हुआ।

अभी एक बार बात नहीं की थी? गोवा में एक (शान्तिलाल खुशाल) थे। हमारे पास आते थे, उनके पास दो अरब चालीस (करोड़) – अढ़ाई अरब रुपये थे। अढ़ाई अरब रुपये! क्या करे? 60 लाख का मकान था, एक बँगला 40 लाख का, 10-10 लाख के दो। स्त्री को कहीं कुछ.... क्या कहते हैं? (मुमुक्षु : हेमरेज) हेमरेज, हेमरेज हुआ और बम्बई आये। बम्बई में वहाँ 3-4 दिन रहे और अब बाई को हेमरेज असाध्य था। उसमें उसके अन्दर एकदम हुआ! आया.... 61 वर्ष की उम्र थी। अढ़ाई अरब रुपये थे। 60 लाख के तो तीन मकान थे... धूल में। यह मुझे दर्द है... कहा 'डॉक्टर को बुलाओ', जब डाक्टर आता है, तब भाईसाहब देह छोड़कर अवस्था पूरी हो गई, प्रभु! ये सब पड़ा रहा और जो परिणाम ममता के किये थे, उस ममता के परिणाम के फलरूप चार गति में भ्रमण करने को चला गया! आहा...हा...! ऐसा मनुष्य का भव मिला, उसमें यदि आत्मा

का कुछ नहीं किया तो इसके अवतार का अन्त कभी भी आये ऐसा नहीं। वह यहाँ कहते हैं। (ऐसे) मनुष्य के भव अनन्त किये, नारकी के किये, देव (के किये), तिर्यच के किये। वह नर, नारक आदि... है न? जीव के विशेष... (अर्थात्) जीव की विशेष अवस्थाएँ। सामान्य जो त्रिकाल (स्वरूप) है, उसकी खबर बिना (अनेक भव किये)। जरा सूक्ष्म बात है, प्रभु! जीव की विशेष अवस्थाएँ – मनुष्यपना, तिर्यचपना, नारकीपना, देवपना – ऐसे विशेष जीव को अनन्त बार हो गये, परन्तु इसको अन्दर आत्मा विशेष रहित (सामान्य स्वरूप) अलग है, (उसका ज्ञान नहीं किया)। जिसकी सत्ता में – जिसके अस्तित्व में यह ज्ञात होता है, यह जाननेवाला, जानने में आता है, उससे अलग है। जाननेवाला जिसकी सत्ता में – जिसकी मौजूदगी में यह सब जो ज्ञात होता है, उनसे वह जाननेवाला (अलग है)... ज्ञात होनेवाली वस्तु से वह अलग है। ऐसा इसने विशेष(रूप) मनुष्यपना आदि अनन्त बार मिला। वह कहते हैं।

नर, नारक आदि जीव के विशेष.... वे अनन्त बार मिले। अजीव... (अर्थात्) यह जड़ शरीर, यह वाणी, यह मिट्टी-धूल है। कहीं कील लगे तो कहीं, क्या कील जंगवाला, लोग कहते हैं, बोलते हैं – 'मेरी मिट्टी पकनेवाली है, पानी छूने नहीं देना।' तब ऐसा बोलता है 'मेरी मिट्टी पकनेवाली है' ऐसी यह मिट्टी है, यह तो मिट्टी है। भगवान तो अन्दर मिट्टी को जाननेवाला चैतन्य भिन्न है। आहा...हा...! ऐसा जानने का कार्य इसने कभी किया नहीं। आहा...हा...! बाकी तो अरबों के अरबों (मिले) – ऐसा पैसावाला अनन्त बार हुआ; सौ बार माँगे और एक बार ग्रास मिले – ऐसा भिखारी अनन्त बार हुआ। ये सब विशेष दशाएँ हैं। इन विशेषों में पूरा त्रिकाली तत्त्व आता नहीं – ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! इन विशेषों से अन्दर आत्मा अलग है। कैसे बैठे? कभी भी विचार ही नहीं किया हो। आहा...हा...! शरीर, पैसा, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा, कीर्ति, मकान, धूल, वह सब अजीव है। वे अजीव 'आत्मा' नहीं। अजीव में आत्मा नहीं; अजीव, जीव में नहीं; जीव, अजीवरूप हुआ नहीं। अजीव, जीवरूप हुआ नहीं। अजीव, अजीवरूप रहा है। वह अजीव विशेष है।

पुण्य... दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का पुण्य अनन्त बार किया है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है प्रभु! इसने शुभभाव विशेषरूप से अनन्त बार मनुष्य में, स्वर्ग में, तिर्यच में

भी अनन्त बार पुण्य किया है, परन्तु वह पुण्य कोई आत्मा नहीं; पुण्य तो एक शुभभाव है, वह तो विकार है। विकार से प्रभु अन्दर भिन्न वस्तु है। आहा...हा...! यह पुण्य (हुआ), पाप... हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, परिग्रह, आहा...हा...! ऐसा जो पाप, वह भी अनन्त बार किया है। यह वस्तु पैसा आदि जो कुछ भी मिलता है, वह पूर्व के पुण्य के कारण (मिलता) है परन्तु मिली हुई चीज है, वह पाप है। वास्तव में भगवान् जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ ने सिद्धान्त में उसे – (परिग्रह को) पाप कहा है। मिला है पुण्य से, परन्तु वह वस्तु पाप है। उस पाप से भी आत्मा भिन्न है। आ...हा...हा...! वह पाप एक विशेष दशा है। भगवान् ध्रुव चिदानन्द प्रभु, जिसकी आदि नहीं, अन्त नहीं – ऐसी नित्य चीज (है), वह सब विशेषभाव है, इनसे अलग है। आहा...हा...! पुण्य-पाप से अलग है? कैसे बैठे?

है? **आस्रव...** वह शुभ और अशुभभाव दोनों आस्रव है। आस्रव अर्थात् जैसे नाव में छिद्र हो और नाव में पानी आए; इस प्रकार भगवान् में पुण्य और पाप के भाव हैं, वह आस्रव है। इनसे नया आवरण आता है, (इसलिए उससे) धर्म नहीं, लाभ नहीं। नये आवरण आये, उसे आस्रव कहते हैं। उसका भी सेवन अनन्त बार किया है। आहा...हा...! **संवर...** थोड़ी सूक्ष्म बात है प्रभु! संवर अनन्त बार किया नहीं, परन्तु संवर भाव आता है, वह पर्याय है। संवर अर्थात् पुण्य-पापरहित भाव, वह अनन्त बार किये नहीं, तथापि वह आता है, वह विशेष दशा है। आत्मा इस विशेष से भिन्न अन्दर अलग है। आहा...हा...! यह कैसे बैठे? कभी भी सुनने को नहीं मिला या करने को नहीं मिला। आहा...हा...!

यहाँ तो 72 वर्ष से यह बात चलती है। इस शरीर के 91 हुए। शरीर के 91 वर्ष हुए। दुकान में भी मैं तो यही पढ़ता। 'पालेज' में बड़ी दुकान है 'भडूच' और 'बडौदा' के बीच 'पालेज' है, वहाँ दुकान है। पैसा है, 40 लाख रुपये हैं। 4 लाख की कमाई है, 67 वर्ष पहले मैं वहाँ दुकान चलाता था, लेकिन बाद में 'पूर्व के संस्कार थे, (उस कारण) कोई रुचा नहीं, कहीं पर रुचा नहीं।' और भगवान् आत्मा अलग कौन है? उसके लिए मुझे तो अब दीक्षा लेनी है। पिताजी स्थानकवासी थे न! पिताजी स्थानकवासी थे। उसमें जन्मा था। उसमें दीक्षा ली, परन्तु उसमें तत्त्व की मूल बात सुनने को नहीं मिली थी। आहा...हा...!

संवर! (अर्थात्) पुण्य और पाप के भाव से रहित दशा, वह भी विशेष अवस्था

(है), इससे प्रभु अन्दर भिन्न है; सामान्य ध्रुव है। आ...हा...हा...! कैसे बैठे? कहाँ गरज (है)? संवर से भिन्न आत्मा (कहा)। पण्डितजी! पुण्य और पाप के भाव नहीं करके, धर्मदशा की, संवरदशा की, फिर भी वह दशा है, वह अवस्था है; वह त्रिकाली वस्तु नहीं। आहा...हा...! (यह) संवर कहा।

निर्जरा.... वह कर्म की निर्जरा। आत्मा में शुद्ध (स्वरूप) का भान होने पर (द्रव्यकर्म का खिर जाना, उसे निर्जरा कहते हैं) सच्चिदानन्द (प्रभु), उसकी अनन्त सम्पदा अन्दर है। (परन्तु) नजर किये बिना निधान नजर में आया नहीं। इसकी अन्दर नजर किये बिना निधान नजर में आया नहीं। निर्जरा हुई, एक समय की निर्जरा हुई परन्तु उसकी उस निर्जरा में पूरा आत्मा नहीं आता। आहा...हा...! यह तो बहुत सूक्ष्म बात, बापू...। वह (निर्जरा) धर्मी को होती है, परन्तु धर्मी की दशा (दृष्टि) उस संवर—निर्जरा पर नहीं होती। क्या कहा यह? अन्दर संवर और निर्जरा धर्म हुआ, पुण्य और पाप भाव से भिन्न पड़कर निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, (वह निर्जरा हुई)। प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दमय है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। आहा...हा...! जैसे शकरकन्द है, वह मिठास का पिण्ड है, वैसे ही यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। उनमें संवर और निर्जरा तो विशेष है। धर्मी की संवर—निर्जरा की (विशेष पर्याय) पर भी दृष्टि नहीं। आहा...हा...! गजब बात है! क्योंकि वह विशेष दशा है।

सामान्य त्रिकाली ध्रुव! जैसे सोना एकरूप त्रिकाल है, उसके कुण्डल, कड़ा (आदि) विशेष अवस्थाएँ हैं। उस अवस्था जितना सोना नहीं। वैसे ही यह संवर, निर्जरा (विशेष दशा है) और आस्रव – पाप और पुण्य तो विकार है; संवर और निर्जरा वह निर्विकारी दशा है, तथापि उस दशा जितना आत्मा नहीं। आहा...हा...! वह तो एक समय की दशा है। ऐसा सूक्ष्म है, प्रभु! आहा...हा...! अन्दर देहदेवल में चैतन्य अनन्त सम्पदा से भरा हुआ भण्डार भगवान है।

कहते हैं कि वह संवर—निर्जरा जो धर्म हुआ, उस धर्म की दशा से भी (आत्मा भिन्न है)। (धर्मदशा), वह पर्याय है, अवस्था है; वस्तु—द्रव्य इनसे अलग चीज है। आहा...हा...! अभी तो शरीर से भिन्न मानने में पसीना आता है। आहा...हा...! शरीर से अलग! यहाँ तो

कहते हैं कि संवर-निर्जरा की पर्याय से (अलग है)। (क्योंकि) वह विशेष है। विशेष अर्थात्? एक समय की अवस्था है और वस्तु त्रिकाल ध्रुव है। उस सम्यग्दृष्टि की दृष्टि, संवर-निर्जरा होने पर भी, उसके ऊपर नजर नहीं। आ...हा...हा...! यह क्या कहते यह?

भगवन्त! संवर-निर्जरा, वह धर्मदशा है। (उसमें तो) उसमें तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। यह जो राग का स्वाद है, वह तो दुःख का स्वाद है। राजा, महाराजा, देव, करोड़धिपति या अरबपति सभी दुःखी प्राणी हैं। वह सब राग में रंगे हुए हैं। राग में रंगे हुए वे दुःख में रंगे हुए हैं। उनको सुख का अंश-गन्ध नहीं। उस दुःख से पार (रहा हुआ) आत्मा का ज्ञान जिसको हुआ, उसे ज्ञान में जो आनन्द आया, उस आनन्द की अवस्था पर भी धर्मी की दृष्टि नहीं; धर्मी की दृष्टि त्रिकाल ज्ञायक के ऊपर है क्योंकि पर्याय है वह तो पलटती... पलटती... बदलती अवस्था है। नहीं बदलनेवाला (तो) ध्रुव भगवान अन्दर चिदानन्द अन्दर प्रभु (है)। आहा...हा...! कठिन लगता है (किन्तु) वस्तु यह है।

है? संवर और निर्जरा। निर्जरा अर्थात्? 'नि' विशेष झरना। अशुद्धता का टलना, कर्म का गलना और शुद्धता - पवित्रता का प्रगट होना, उसको निर्जरा कहते हैं परन्तु वह निर्जरा विशेष दशा है; त्रिकाल द्रव्य नहीं। आहा...हा...! वह... वह... वह... वह... यह... यह... यह... यह... ऐसा ध्रुव आत्मा जो अनादि-अनन्त (है), वह इस संवर, निर्जरा में नहीं आता। आहा... और संवर-निर्जरा की पर्याय जिसे प्रगट हुई, उसकी भी दृष्टि ध्रुव द्रव्य पर होती है। आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं, प्रभु! अभी तो संवर-निर्जरा का ठिकाना नहीं; आस्रव और बन्ध में पड़ा है, फिर भी यहाँ कहते हैं धर्म जिसे प्रगट हुआ, संवर-निर्जरा प्रगट हुए, परन्तु वह दशा विशेष है; वह सामान्य त्रिकाल चीज नहीं। जो ध्रुवस्वरूप चिदानन्द प्रभु है - कायम रहनेवाला (अर्थात्) यह... यह... यह... यह... है... है... है... है... है... अनादि-अनन्त है... है... है... ऐसा जो सामान्य तत्त्व, उसकी दृष्टि करने पर (संवर-निर्जरा होते हैं)। (उस) संवर और निर्जरा की दृष्टि - पर्यायदृष्टि भी छूट जाती है। अर...र...र...! कहो, निहालभाई! इसमें धूल में कभी भी सुना है वहाँ? एक घण्टा, ऐसे फोटो (रखा) हो (उसकी) पूजा की, थोड़ा साधारण-सा शुभभाव किया और बाद में करता है, 23 घण्टे पाप। ...आत्मा किसी का बहनोई नहीं और किसी का साला भी नहीं।

आत्मा, निर्जरा और संवररूप भी नहीं न, प्रभु! एक बार सुन न नाथ! प्रभु! 'तुम्हें' 'प्रभु' कहकर तो मुनिवर बुलाते हैं। आ...हा...हा...! सन्त ऐसा कहते हैं, प्रभु! भगवान! एक बार तेरी बात सुन प्रभु! आ...हा...हा...! तूने तेरे घर की बातें सुनी नहीं, नाथ! बाहर की बातों में उलझकर कर भ्रम से बहिरात्मा में भटक रहा है। आहा...हा...!

अन्तर में प्रभु – पुण्य और पाप, आस्रव और बन्ध, ये राग-द्वेष बन्ध (है), इनसे तो अलग है परन्तु संवर और निर्जरा – धर्मदशा जिसे अनन्त काल में हुई नहीं, ऐसी अन्तर दशा हुई परन्तु वह दशा है – अवस्था है, वह त्रिकाली चीज नहीं; इसलिए धर्मी जीव की संवर-निर्जरा (की) पर्याय ऊपर दृष्टि नहीं; उसकी दृष्टि द्रव्य ऊपर – वस्तु पर होती है। अनन्त गुण का निधान सच्चिदानन्द प्रभु! चैतन्य के प्रकाश के नूर के पूर से भरा हुआ। अरे...रे...! कहाँ है वह...? उसके ऊपर (जिसकी दृष्टि है), उसे धर्मी कहते हैं। (उसे) समकिति और धर्म की पहली शुरुआत (कहते हैं)। धर्म की पहली शुरुआत! त्रिकाल द्रव्य ऊपर दृष्टि पड़ना, वह धर्म की शुरुआत है। आहा...हा...!

प्रभु! मार्ग कठिन है, बापू! दुनिया में सभी को जानते हैं। समझ में आया? पूरी दुनिया देखी है। कलकत्ता, दिल्ली, चारों तरफ बहुत घूमे हैं। दुकान का माल लेने जाते, लेकिन सब जगह घूमे हैं। छोटी उम्र में – 18 वर्ष की उम्र से। अभी तो 90 हो गये। आहा...हा...!

प्रभु! यहाँ कहते हैं कि पुण्य और पाप के (भाव) दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, परिग्रह के भाव, वह तो पाप और पुण्य दोनों विकार हैं। आहा...हा...! वह आत्मा नहीं, परन्तु संवर और निर्जरा, (वह भी त्रिकाल आत्मा नहीं)। भगवान! एक बार सुन तो सही प्रभु! रुचे, नहीं रुचे, वह अलग बात है, परन्तु एक बार सुन, प्रभु! तेरी प्रभुता अन्दर अनन्त गुणी भरी है। उस प्रभुता की दृष्टि में – अन्दर धर्म की दृष्टि प्रगट हुई, आत्मा की शान्ति प्रगटी। वस्तु पर दृष्टि आने से (शान्ति प्रगटी)। वस्तु उसे कहते हैं जिसमें अनन्त गुण बसते हैं। वस्तु (अर्थात्) बसते हैं। वस्तु में अनन्त गुण बसे हुए हैं। वास्तु होता है, वह मकान में लिया जाता है; वास्तु कोई नीम या पीपल में नहीं लिया जाता। इस प्रकार यह वस्तु भगवान (स्वरूप है) उसमें अनन्त गुण बसे हुए हैं, इसमें वास्तु लेना है। आहा...हा...! इसने कभी भी एक समयमात्र वास्तु लिया नहीं। बाकी बाहर

के 2-5 करोड़ के मकान बनाकर, 25-50 लाख खर्च करके बड़ा वास्तु लिया और बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं को बुलाकर, वह... मानो वह खुश-खुश हो गया, ओ...हो...हो... ! मानो क्या किया !...प्रभु ! हमारे पास तो यह है, बापा !

यहाँ तो 90 वर्ष हुए, पूरी जिन्दगी इसी में गयी है। पाँच वर्ष व्यापार किया था। बड़ी दुकान चलती है, 'पालेज' में। 'भस्त्व' और 'बड़ोदरा' के बीच 'पालेज' है। पैसा 40 लाख है। 4 लाख की आमदनी है। अभी वह दुकान हमारी ही है। 4 लाख की कमाई है। 40 लाख रुपये हैं। धूल में धूल है। आहा... 67 वर्ष हुए छोड़े। धूल को छोड़े ! प्रभु अन्दर भिन्न है, आहा...हा... !

यहाँ तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं कि जिसे वह द्रव्य / वस्तु है, उसका ज्ञान होकर धर्म हुआ है; जो अनन्त काल (में) हुआ नहीं – ऐसी धर्म की दशा (में) अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद (आया है)। इस राग का स्वाद, वह संसार (में) भटकने का स्वाद है। अतीन्द्रिय (आनन्द का) स्वाद आया, उसको यहाँ संवर और निर्जरा कहते हैं, तथापि धर्मी की दृष्टि संवर और निर्जरा पर्याय है, (उसके) ऊपर नहीं; उसकी नजर अन्दर द्रव्य ऊपर है। आ...हा...हा... !

सूक्ष्म बात है, भगवान ! यह किस प्रकार का उपदेश। (जैसा) है वैसा है, बापा ! सभी को जानते हैं। बहुत... बहुत... लाखों का परिचय हुआ है। 'काठियावाड़' में सब देखा है और फिर इस नये अफ्रीका में आने का मन हुआ, ये लक्ष्मीचन्दभाई और ये सब आये न ! अन्न-जल है (तो) आये। आहा...हा... ! भगवान अन्दर विराजते हैं। जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा महाविदेह में वर्तमान में विराजते हैं। उनके मुख से निकली हुई यह वाणी है। उसकी रचना 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने सुनकर—आठ दिन सुनकर की है। आठ दिन वहाँ गये थे।

आहा... ! यहाँ ऐसा कहते हैं – धर्म दशा जिसे प्रगट होती है, उस दशा पर भी उसकी दृष्टि नहीं। आ...हा...हा... ! भगवान ! बात बहुत सूक्ष्म है। अभी तो बाहर से छूटना कठिन ! निहालभाई ! (किसी के) बेटा नहीं, कुछ नहीं तो भी उपाधियों का पार नहीं। वह आनेवाला था न भाई पूनमचन्द ! आया नहीं ? कहता था कि मैं आता हूँ। उसके पास पाँच-छह करोड़

रुपये हैं। उसके पास चार-पाँच करोड़ हैं.... धूल... धूल... ! उसमें उलझ गया, उलझ गया। यह तत्त्व क्या है? (इसकी कोई खबर नहीं।) आहा...हा... ! प्रभु! तू दुःखी है भाई! तुझे पता नहीं, दुःख की दशा किसे कहना? उसकी तुझे खबर नहीं। आहा...हा... ! ये पुण्य और पाप के भाव, इनको भी परमात्मा, दुःख और आकुलता कहते हैं, प्रभु! इनसे अनाकुल और आनन्दस्वरूप प्रभु भिन्न है। उसने कभी भी देखने-जानने के लिए नजर नहीं की, नाथ! आहा...हा... !

यहाँ तो अन्दर सभी को भगवान दिखते हैं। यह देह देवल भिन्न है, वह राग अलग है, अन्दर भगवान (अलग) है। मुनिराज तो भगवान कहकर बुलाते हैं। आ...हा...हा...हा... ! भगवान आत्मा! 72 गाथा में आता है। इसके बाद यह 72 वीं गाथा पढ़ेंगे। यह तो 38 वीं पढ़ रहे हैं। बाद में 72 वीं (गाथा) लिखी है। इन लोगों ने झवेरचन्दभाई और लक्ष्मीचन्दभाई सबने मिलकर (लिखी है) कि यह पढ़ना। इसमें तो ऐसा लिखा है कि, भगवान आत्मा, वह शुभ और अशुभभाव (से अलग है)। ये दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव पुण्य का (भाव है) और काम-क्रोध (और) कमाने का, पैसा खर्च करने का पैसा संग्रह करने का, और ब्याज उपजाने का (भाव) वह पाप भाव (है)। आहा...हा... ! भगवान! तुम (इन) पाप और पुण्य से भिन्न हो, प्रभु! ऐसा मुनिराज कहते हैं। आहा... हा... ! मुनिराज 72 गाथा में (ऐसा कहते हैं) हे नाथ! प्रभु! पुण्य और पाप के भाव, वह अशुचि है। इसमें है – 72 गाथा में होगा। 72 गाथा में होगा। देखो, इसमें! इस 38 के तुरन्त बाद 72 गाथा है। इसमें 72 गाथा में है।

पुण्य और पाप के भाव, दोनों अशुचि है, मलिन है। भगवान आत्मा.... इसमें भगवान आत्मा लिखा है। है निहालभाई? 'मुनिराज' 'भगवान' कहकर बुलाते हैं। आ...हा...हा... ! भगवान आत्मा! इन पुण्य और पाप की अशुचि – मेल से अन्दर निर्मलानन्द भिन्न है। प्रभु! तुमने कभी भी नजर नहीं की। प्रभु! तुमने कभी भी सुनकर प्रेम किया नहीं। जगत के प्रेम की प्रीति में रुकने से इस तरफ का द्वेष हो गया है। 'आनन्दघनजी' कहते हैं, श्वेताम्बर में 'आनन्दघनजी' हुए, वह कहते हैं कि 'द्वेष-अरोचकभाव।' जिसको राग का प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है क्योंकि वह रुचता नहीं, इसलिए उसे द्वेष है। आ...हा...हा...हा... ! किस प्रकार का उपदेश आया!

हमारे वहाँ तो 45 वर्ष से यह चलता है। 45 वर्ष की आयु में वहाँ गये हैं और (बाद में) 45 हुए अर्थात् 90 हुए। (वहाँ) तो बड़े-बड़े वकील भी आते हैं, बड़े डॉक्टर आते हैं, जहाँ जाते हैं वहाँ, राजा-महाराजा भी व्याख्यान में आते हैं! भावनगर दरबार! (उनके) करोड़ों की आमदनी है, करोड़ों की। वे आये थे। उनसे कहा था 'दरबार बड़े भिखारी हो'! कैसे (भिखारी है)? अन्तर में अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि लक्ष्मी पड़ी है, इस लक्ष्मी की दरकार (नहीं), उसकी महिमा करता नहीं और इस धूल लक्ष्मी-करोड़ रुपये और दो करोड़ और पाँच करोड़ की बारह महीने में उपज आये (उसको माँगते हैं) वह भिखारी है। माँगता है... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ...! हमारे कहाँ महाराजा को मक्खन लगाना था (या) पैसा लेना था। वैसे व्यक्ति नरम था, गुजर गया बेचारा। 'कृष्णकुमार' था। 'सत्य बात, महाराज!' ऐसा कहता था। कृष्ण कुमार दरबार था (वह) गुजर गया। लड़का है (तो) लड़का आया था। भावनगर से व्याख्यान में आये। लेकिन इस धूल में कुछ नहीं, ये तो नहीं, परन्तु यहाँ तो संवर-निर्जरा में आत्मा नहीं - ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! (क्योंकि) एक समय की पर्याय है।

है? संवर, निर्जरा, बन्ध... बन्ध (अर्थात्) राग और द्वेष का भावबन्ध, वह पर्याय है - अवस्था है। मोक्षस्वरूप... अरे...! मोक्ष! आ...हा...हा...! प्रभु! गाथा ऐसी आ गई है। इस आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ - ऐसा मोक्ष। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु है! सच्चिदानन्द प्रभु है। सत्, त्रिकाल, चिदानन्द, आनन्दकन्द अन्दर है। इसकी नजर वहाँ गई नहीं। नजर गये बिना निधान कैसे दिखे? वह मोक्षस्वरूप है, वह भी पर्याय है - (ऐसा) कहते हैं। आ...हा...हा...! समझ में आया?

है? मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व... ये सब व्यावहारिक नव तत्त्व हैं। आहा...हा...हा...! यह तुम्हारे संसार के व्यवहार की बात नहीं। अन्तर के भेद के नव तत्त्व की पर्याय पड़े, उसको भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव 'व्यवहार' कहते हैं। आहा...हा...! हमारा व्यवहार अच्छा चलता है, हम अच्छे ठिकाने लड़की का विवाह करते हैं, लड़का का अच्छे ठिकाने विवाह करते हैं... हमारा व्यवहार (ऐसा)। उस धूल की बात यहाँ नहीं। वह तो सब नरक-निगोद में जाने के रास्ते हैं। यह तो नव तत्त्व जो हैं और (उसमें भी) यह

मोक्ष तत्त्व जो है... आहा...हा... ! जिसमें परमात्मा, पर्याय में मुक्त होता है, अर्थात् अवस्था में अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ मिलता है, अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण स्वाद आता है, इसका नाम मोक्ष। वह मोक्ष भी पर्याय है। अर...र...र... ! ऐसा मार्ग है।

मोक्षस्वरूप,... है? जो **व्यवहारिक नव तत्त्वों...** ये व्यवहारिक नव तत्त्व हैं। आ...हा...हा... ! कहो, समझ में आया इसमें? जेठालालभाई ! लक्ष्मीचन्दभाई ! क्या कहा यह? यह नव तत्त्व हैं, वह व्यवहार है। जीव की विशेष दशा नारकी आदि, अजीव आदि, पुण्य-पाप, आस्रव (अर्थात्) नया आवरण आए, वह आस्रव; बन्ध (अर्थात्) राग-द्वेष; मोक्ष (अर्थात्) पूर्ण दशा। आत्मा की पूर्ण निर्मल दशा, जिसको मोक्ष कहते हैं, उसको भी यहाँ व्यवहार ही कहा गया है क्योंकि मोक्ष, वह पर्याय है – अवस्था है; त्रिकाली द्रव्य इनसे पृथक् है। मोक्ष एक वेष है। चैतन्यतत्त्व का मोक्ष एक भेष है। आ...हा...हा... ! 'समयसार' में सब आता है। पुण्य-पाप इसका एक वेश-भेष है। वह इसका कोई तत्त्व नहीं। इसी प्रकार संवर-निर्जरा और मोक्ष भी एक भेष है – अवस्था है।

ये व्यवहारिक नव तत्त्व... आ...हा...हा... ! **उनसे, टंकोत्कीर्ण...** (अर्थात्) शाश्वत्। यह नव(तत्त्व) है, यह तो पर्याय है, अवस्था हुई। परन्तु पर्याय किसे कहना? अभी इसे समझते नहीं। पर्याय-अवस्था जो हुई, उससे **टंकोत्कीर्ण, एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ...** आहा... धर्मी ऐसा जानते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया? धर्म की पहली सीढ़ीवाला, धर्म की पहली श्रेणीवाला ऐसा समझता है कि यह नव तत्त्व, जो व्यवहारिक तत्त्व है... आहा...हा... ! उनसे (मैं) अत्यन्त पृथक् हूँ। है? उससे **टंकोत्कीर्ण...** अर्थात् शाश्वत्। (मैं) शाश्वत् वस्तु हूँ। **एक ज्ञायकस्वभाव...** एकरूप जानन... जानन... जानन... जानन.... जानन.... चैतन्य प्रकाश का पूर। चैतन्य प्रकाश का नूर – ऐसा जो मैं भगवान आत्मा **ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ...** (व्यवहारिक) नव(तत्त्वों से) अत्यन्त भिन्न हूँ। थोड़ी कठिन बात आयी।

जीव के विशेष नारकी, मनुष्य, देव, धुड, कीड़ा, बकरा आदि तिर्यच वह विशेष अवस्था है। अजीव (अर्थात्) जड़ शरीर आदि, शुभभाव वह पुण्य, अशुभभाव वह पाप, दोनों होकर आस्रव। वह राग में अटका है, वह बन्ध और बन्धरहित होकर आत्मा की पूर्ण

मोक्षदशा, वह मोक्ष। वे नव तत्त्व पर्यायें हैं, इसलिए मैं इनसे अत्यन्त भिन्न हूँ – ऐसा सम्यक्त्वी – धर्म की शुरुआतवाला, धर्म की पहली श्रेणीवाला ऐसा समझता है और अनुभव करता है। आहा...हा...! गजब बात है! धर्म की पहली श्रेणीवाला, निहालभाई! (ऐसा अनुभव करता है)। यह थोड़ी देर पूजा करके कर दिया, कर दिया (स्वाहा) ऐसा नहीं होता, यहाँ (ऐसा) कहते हैं। बाद में चारों ओर होली सुलगे। आहा...हा...!

यह तो नव तत्त्वों के जो भेद पड़े, (उनसे भिन्न है)। जीव के विशेष भेद (अर्थात्) नारकी, मनुष्य आदि, इनसे अत्यन्त पृथक्; अजीव से अत्यन्त पृथक्; पुण्य के परिणाम, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, दान इन शुभभावों से पृथक्; हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग से पृथक्; क्रोध, मान, माया, लोभ, राग से पृथक्; और भिन्न हुआ (थोड़ा) संवर (उनसे भिन्न), आ...हा...हा...! भिन्न हुआ जो संवर और निर्जरा धर्म की दशा, (उनसे पृथक्) संवर (अर्थात्) धर्म की शुरुआत; निर्जरा (अर्थात्) धर्म की वृद्धि; मोक्ष (अर्थात्) धर्म की पूर्णता – ये तीनों दशाएँ हैं। इन दशाओं से भी मेरी चीज भिन्न है। आ...हा...हा...!

यहाँ तो काठियावाड़ में से आ पड़े हैं, बापू! नहीं तो यह बात वहाँ तो हमारे 45 वर्षों से चलती है, लाखों व्यक्ति सुनते हैं। कलकत्ता, दिल्ली, सभी जगह गये, सभी जगह यह चलता है। आहा...हा...! जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ राजा-महाराजा आते हैं। सभी सुनने आते हैं, एक बार – दो बार तो आते ही हैं। क्या है यह? कहते हैं यह क्या? लेकिन बेचारे फँस गये (हों), उसको यह बात कहाँ (समझ में आये)?

(यहाँ कहते हैं) नव तत्त्व जो है, ... आ...हा...हा...! उन नौ में जीवतत्त्व अभी नहीं लेना। जीव के विशेष भाव जो हैं, वे नौ में लेना। नारकी, मनुष्य, देव, नारकी (लेना)। वह संवर और निर्जरा भी भेष है – अवस्था है। मोक्ष भी एक भेष – अवस्था है। भगवान त्रिकाली ध्रुव एक समय की अवस्था में आता नहीं और एक समय की अवस्था जितना नहीं। आ...हा...हा...! समझ में आया? प्रभु जो (आता) हो, वही आवे और दूसरा क्या आवे? ये चाहे जैसे सरल करने जाए तो कोई (सरल) हो नहीं, बापा!

भगवन्त! आहा...हा...! प्रभु तेरी प्रभुता अन्दर अनन्त गुणी है। उस द्रव्य की प्रभुता (अनन्त गुणी है) द्रव्य अर्थात् वस्तु। द्रव्य अर्थात् यह पैसा नहीं। द्रव्य अर्थात् अन्दर

वस्तु—त्रिकाली आत्मा। उस द्रव्य की दृष्टि की अपेक्षा से नव तत्त्वों का भेद विशेष (है), इनसे वह भिन्न है। आहा...हा...! उसको इस प्रकार अनुभव करे और इस प्रकार जाने, तब उसे सम्यग्दर्शन, उसे धर्म की पहली शुरुआत कहा जाता है। चारित्र तो बाद में कहाँ रह गया बापा! आहा...हा...! समझ में आया? नव तत्त्व में तो बहुत आया, भाई!

एक ज्ञायकस्वभाव... एक ज्ञायकस्वभाव। वह सब तो पर्यायें हैं – अवस्थाएँ हैं – एक समय की स्थितिवाली दशाएँ हैं। मैं अन्दर त्रिकाल द्रव्य शाश्वत् वस्तु हूँ। वह शाश्वत् वस्तु मेरी दृष्टि का विषय है। धर्मी की दृष्टि का विषय—ध्येय—दृष्टि का ध्येय... आहा...हा...! पूर्ण वस्तु है। दृष्टि का ध्येय यह नव(तत्त्व की) पर्यायें, वह उसका विषय नहीं। आहा...हा...!

सुनने में कठिन पड़े। किसी ने पढ़ा नहीं। यह 'समयसार' पढ़ा है? निहालभाई! पढ़ा हो तो (भी) कहाँ यह खबर (थी), भान भी कभी नहीं था। सत्य बात है न, भाई! करोड़ों रुपये हैं; लड़का नहीं। चार—पाँच करोड़ रुपये हैं, हो गया—उसी में फँस गया। निहाल का अनिहाल हो गया वहाँ। निहाल तो यह आत्मा, इन नव तत्त्वों के विशेष भेदों से भी भिन्न है, उसे अन्दर जाने, तब वह 'निहाल' और समकित दृष्टि कहा जाता है। आ...हा...हा...! भाषा, प्रभु! भाषा तो सादी है, भाषा कोई संस्कृत और व्याकरण और ऐसी कोई बड़ी—बड़ी नहीं, परन्तु अब वस्तु तो जैसी है, वैसी है। आहा...हा...! किसी के लिए कोई वस्तु बदल जाए ऐसा नहीं कि इसके लिए यह! अजान के लिए दूसरी और जान(कार) के लिए दूसरी। पण्डितों के लिए दूसरी और मूर्ख के लिए दूसरी – ऐसा कुछ नहीं। वस्तु तो जो है, वही है अन्दर। आहा...हा...!

सच्चिदानन्द प्रभु! इन नव तत्त्वों से ज्ञायक भिन्न – ऐसा मैं शुद्ध हूँ... आहा...हा...! है? धर्मी ऐसा जानते हैं (कि) ऐसा मैं शुद्ध हूँ। आ...हा...हा...! दो पंक्ति में इतना भरा है।

चिन्मात्र होने से... अब अस्ति कहते हैं। तब क्या है? वह तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान.... ज्ञान... जैसे पानी का पूर होता है, वैसे यह ज्ञान का पूर है, प्रभु! आ...हा...हा...! इसकी नजर वहाँ गई नहीं। वह जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... इस प्रकार ध्रुवरूप उसका (पूर चलता है)। पानी का पूर ऐसे चलता है, ध्रुव का पूर ऐसे चलता है। ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... आ...हा...हा...!

किस प्रकार की बात, बापा! भगवान (बात तो) यह है, बापू! मानों न मानो, यह जगत् तो स्वतन्त्र है। परमात्मा त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में जो आया, (उसे) मुनि आड़तिया होकर, भगवान सर्वज्ञ का माल जगत के पास जाहिर करते हैं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा साक्षात् विराजते हैं। समवसरण में विराजते हैं। आहा...हा...! बेन हैं (वह) वहाँ से आये हैं। बेन है न? (चम्पाबेन को) नौ भव का ज्ञान है। नौ भव का ज्ञान है। असंख्य अरब वर्ष का जातिस्मरण है, वे वहाँ थे, वहाँ से आये हैं। वह सब बात जानते हैं। आ...हा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि है कौन तब वह? नव तत्त्व से भिन्न, नव की पर्याय – अवस्था – दशा से भिन्न, वह भिन्न क्या है? (तो कहते हैं) वह चिन्मात्र होने से... आहा...! (अर्थात्) वह तो ज्ञानमात्र वस्तु है। ध्रुव ज्ञान – ध्रुव वस्तु है। नित्य वस्तु है। त्रिकाल ध्रुव ज्ञायक अनादि-अनन्त (है)। 'है' उसकी आदि नहीं होती, 'है' उसका भविष्य में नाश नहीं होता, 'है' वह अपने स्वभाव से खाली नहीं होता। समझ में आया? जो चीज है, 'है' सत्ता... सत्ता (है) वह किसी से उत्पन्न नहीं होती, किसी से नाश नहीं और वह वर्तमान में अपनी अनन्त सम्पदा का स्वभाव, उससे वह खाली नहीं होती, उसे यहाँ वस्तु और आत्मा और तत्त्व कहते हैं। आ...हा...हा...! ऐसा उपदेश किस प्रकार का यह? बापू! यह बात दूसरी है भाई! अभी जगत् की चाल चलती है, उससे यह अलग प्रकार है। जगत् चलता है (कहीं) और यह बात रह गयी है (कहीं)। आहा....हा....!

चिन्मात्र होने से सामान्य – विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता... क्या कहते हैं? मैं तो एक जाननेवाला – विशेष (उपयोगात्मक) और देखनेवाला – सामान्य (उपयोगात्मक स्वरूप हूँ)। मेरा स्वरूप दर्शन और ज्ञान (स्वरूप है)। दर्शन किसी चीज को भेद करके नहीं देखता, (इसलिए सामान्य उपयोगात्मक है)। ज्ञान प्रत्येक को भेद करके देखता है, इसलिए विशेष (उपयोगात्मक है)। (पहले जो) नव विशेष (कहे वे) अलग और यह ज्ञान विशेष अलग। यहाँ ज्ञान विशेष (कहा वह) ध्रुव (है) और (पहले) नव तत्त्व (कहे) वे पर्याय विशेष (है), वे अनित्य और अध्रुव (है), आहा...हा...! क्या याद रहे इसमें! सुनने घर से नहीं आये (तो वह पूछे) 'क्या सुनकर

आये?’ (तब सुननेवाला कहे) ‘कौन जाने, क्या कुछ कहते थे, ऐसा है और वैसा है।’ अरे प्रभु! अरे...रे...!

निजघर के ज्ञान बिना प्रभु! तू चौरासी के अवतार में भटक मरा बापू! आहा... मुनिवरों को तेरी दया आती है, करुणा आती है, करुणा से इसे ‘भगवान’ बुलाकर जगाते हैं। जाग रे! जाग, नाथ! प्रभु! ऐसा अवसर तुझे कब मिलेगा? आ...हा...हा...! मनुष्य भव मिला तो पंचेन्द्रिय (दशा) मिली; वीतराग की वाणी कान में पड़ी! ‘भगवान! कब ऐसा योग मिलेगा?’ एक बार जाग तो सही, भाई! और ‘जागकर देख तो...’ आ...हा...हा...! ‘जगत दिखता नहीं।’ जगत जगत में रहा, मैं तो चैतन्यमूर्ति हूँ। चैतन्यमूर्ति त्रिकाल ज्ञानस्वभाव से भरा हुआ ध्रुव चैतन्य हूँ। आहा...हा...!

वह कहते हैं देखो! **चिन्मात्र होने से सामान्य...** सामान्य अर्थात् दर्शन। यह सम्यक्त्व की बात नहीं। (दर्शन अर्थात्) दर्शन का विषय ऐसा है कि किसी को (भी) भेद किये बिना देखे। पूरी दुनिया की सत्ता है, उस सत्ता को भेद किये बिना देखे, उसे ‘सामान्य’ कहते हैं। यह सामान्य (की व्याख्या हुई) और विशेष (अर्थात्) ज्ञान। (ज्ञान) प्रत्येक चीज को भिन्न करके (जानता है)। यह जीव है, यह अजीव है, यह गुण है, यह पर्याय है, यह विकार है, यह अविकार है – ऐसा भेद करके जो जाने, उसे ‘विशेष’ ज्ञान कहते हैं? (पहले कहे वे) नव तत्त्व का विशेष अलग और यह विशेष अलग। आहा...हा...! समझ में आया?

‘समझ में आया कुछ?’ ऐसा कहते हैं न? समझ में आ जाए तब तो निहाल हो जाए परन्तु ‘कुछ’ अर्थात् किस पद्धति से कहते हैं, किस प्रकार कहते हैं, उस कला को लक्ष्य में ले तो ‘कुछ समझा’ ऐसा कहा जाए। बाकी समझे तब तो निहाल हो जाए। आहा...हा...! समझे तब तो इसको केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहे। दूज प्रगटे तो उसकी पूनम हुए बिना न रहे। इसी प्रकार अन्तर की दूज—आत्मज्ञान हो, नव तत्त्व के भेद से—विशेष से... भिन्न देखे, माने, जाने, अनुभवे, उसे केवलज्ञान और मोक्ष हुए बिना नहीं रहे। दूज उदित हुई, उसे पूनम हुए बिना नहीं रहे।

इस प्रकार ऐसा जो आत्मा, दर्शन—सामान्य को देखनेवाला, ज्ञान से जाननेवाला

(ऐसा) सामान्य—विशेष उपयोगात्मकता का... उपयोग अर्थात् वह तो जानने—देखने के व्यापारवाला है। इस जानने—देखने के व्यापारवाला है, इस धूल के व्यापारवाला नहीं। धूल अर्थात् यह कपड़े का व्यापार, सोने का व्यापार, जरी का व्यापार, हीरे का व्यापार, ये सब धूल के व्यापार हैं। आहा...हा...! यहाँ तो ज्ञान उपयोगपने के कारण (ऐसा कहा है) जानना—देखना वह उपयोग (अर्थात्) अन्दर व्यापार है, उस रूप का उल्लंघन नहीं करता,... (अर्थात्) ज्ञान और दर्शन जो स्वभाव (है), त्रिकाल जिसका स्वरूप है, उसे कभी भी उल्लंघन नहीं करता। उसका उल्लंघन करके पर्याय में कभी नहीं आता। आ...हा...हा...!

अब ऐसा उपदेश! जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा वहाँ परमार्थ हो रहे अभी समवसरण में (अभी) महाविदेह क्षेत्र में (विराजमान) हैं। आहा...हा...! यह उनकी वाणी है। वह सुनी हुई वाणी, वह मुनियों ने (आगम में) रची और जगत को आड़तिया रूप से प्रस्तुत करते हैं। प्रभु! एक बार सुन। आ...हा...हा...! अरे...! तुमने बहुत पाप किये, बापू! संसार के—पाप के—पुण्य के बड़े पोटले बाँधे, परन्तु एक बार तुमने यह नव तत्त्व के विशेष से अलग द्रव्य है, उसे तुमने एक समय (के लिए) भी देखा और जाना नहीं। आ...हा...हा...! और इसे जाने बिना और देखे बिना तेरे मरण और जन्म—मरण का अन्त आये — ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! हैं?

सामान्य—विशेष उपयोगात्मक का उल्लंघन नहीं करता इसलिए मैं दर्शन ज्ञानमय हूँ... मैं दर्शन और ज्ञानमय हूँ। नव तत्त्व की पर्यायमय नहीं। सूक्ष्म पड़ता है बापू! हमारे वहाँ तो इससे सूक्ष्म आता है। सुननेवाले बड़े-बड़े वकील हैं, 97 वर्ष वाले 'रामजी' वकील बड़े हैं, वे प्रतिदिन सुनने बैठे होते हैं। वहाँ तो हमेशा सवेरे, दोपहर व्याख्यान चलता है। ऐसी बातें तो वहाँ हजारों बार हो गयी हैं। आ...हा...हा...! इस देश में तो पहले पहले आये हैं। कहाँ (यह) अनार्यदेश! (और कहाँ वह देश) आहा...! परन्तु यह बात तो परमात्मा के घर की है, भाई!

(यहाँ) यह कहते हैं (कि) मैं तो दर्शनज्ञानमय हूँ, विशेष दूसरे शब्द है। (वह) विशेष कहेंगे....
(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)